पश्चिमीय-चालुक्योंका वंशवृक्ष।

(पृष्ठ १२१)

दक्षिण भारतका मध्यकालीन इतिहास ।

(३)

पश्चिमी-चालुक्य-काल ।

संक्षिप्त जैन इतिहास ।

पश्चिमी चालुक्य राजवंश और जैनधर्म।

(सन् ९७३ ई० से सन् ११५६ ई० तक)

तैलप द्वि०। राष्ट्रकूट वंशके राजा कक्कलको परास्त करके पश्चिमी चालुक्य राजा तैलपदेव द्वितीयने सन् ९७३ ई० में चालुक्य-साम्राज्य-लक्ष्मीको पुनः प्राप्त किया[1]! यह चालुक्य राजागण भी अपने पूर्वजोंकी भांति जैनधर्मके संरक्षक और अनुयायी थे। उनके पड़ोसी गंग-होयसल आदि राजवंशोंके नृपगण भी जैन धर्मानुयायी थे। महाराज तैलदेव एक प्रतापी राजा थे। उनकी महारानी जकव्वे राष्ट्रकूट वंशकी राजकुमारी थीं। जैनधर्मसे उनका घनिष्ट सम्बन्ध था। उन्होंने कन्नड़ साहित्यके चमकते हुए रत्न जैन कविरत्नको आश्रय प्रदान किया था और उन्हें 'कवि-चक्रवर्ती' की उपाधिसे विभूषित किया था। तैलपके पुत्र सत्याश्रय इरिव बेड़ंग थे[2]। तैलपने कल्याणीमें अपनी राजधानी स्थापी थी[3]।

सत्याश्रय। सत्याश्रय उनके उत्तराधिकारी हुये, जिन्होंने सन् ९९७ से सन् १००९ ई० तक सुचारु रीतिसे शासन किया। उनकी रानीका नाम अंबिकादेवी था। उन्होंने भी कई स्थानोंको जीत करके चालुक्य राज्यका गौरव बढ़ाया था। वह स्वयं जैनधर्मानुयायी थे। उन्होंने एक

१-मैकु० ७२ व हीरा० १२३-४. २ मेजै० पृ० ४२. ३ हिंविको० भा० ७ पृ० ३१९. ४ मैकु० पृ० ७२,

जैन गुरुके स्मारक रूप उनकी निषधि निर्माण कराई थी। उनके धर्मगुरु द्रविलसंघ-पुस्तकगच्छके श्री आचार्य विमलचंद्र पण्डितदेव थे[1]।

जयसिंह। सत्याश्रयके पश्चात् उनके भतीजे विक्रमादित्य त्रिभुवनमल्ल राजा हुए जिन्होंने सन् १००९ से सन् १०१८ ई० तक राज्य किया था। उनके बाद उनके छोटे भाई जयसिंह जगदेकमल्ल राजसिंहासन-पर बैठे। तञ्जोर शिलालेखसे स्पष्ट है कि उन्होंने मालवोंको विध्वस्त तथा चेर और चौल राजाओंके साथ युद्ध किया था। तमाम कुन्तलदेश उन्होंने अपने अधिकारमें किया था।

राजेन्द्र चोलको उन्होंने अपना कैदी बनाया था। सन् १०१८ से सन् १०४२ ई० तक उन्होंने शासन किया था। उन्होंने बलिपुरमें एक जैनमंदिर बनवाया था, जो उनके विरुद 'मल्लिकामोद' की अपेक्षा 'मल्लिकामोद-शान्तीस-बस्ती' कहलाता था। जैनगुरु वादिराज उस समय एक प्रसिद्ध विद्वान् थे। राजा जयसिंह उनका बड़ा आदर करते थे। उनकी विद्वत्ता पर मोहित होकर उन्होंने उनको 'जगदेक-मल्लवादी' की उपाधिसे अलंकृत किया था। वादिसिंहजीके धार्मिक प्रवचनों और दार्शनिक वादोंको सुननेमें राजा जयसिंहको बड़ा रस आता था। गर्ज यह कि उनके दरबारमें जैनधर्मका महत्व-प्रदर्शन खूब हुआ था।

पश्चात् उनके पुत्र सोमेश्वर आहवमल्लने प्रबल प्रतापपूर्वक सन्

१-मेजै० पृ० ४३। २-हिंविको०, भा० ७ पृ० ३१९। ३-मैकु० पृ० ७३। ४-मैजै०, पृ० ४९-५४।

सोमेश्वर । १०४२ से सन् १०६८ ई० तक राज्य किया । 'विक्रमाङ्क चारित्र' से स्पष्ट है कि उन्होंने दो दफा चोलराज्यपर विजय पाई थी[२] । वह जैन धर्मके परम भक्त थे । कोगलिके शिलालेखसे स्पष्ट है कि वह स्याद्वाद सिद्धांतके श्रद्धानी थे और उन्होंने वहांके जिनमंदिरको दान दिया था[३] । वह जैनाचार्य अजितसेनका विशेष सन्मान करते थे और उन्हें 'शब्द–चतुर्मुख' उपाधिसे विभूषित किया था[४] ।

सोमेश्वरके जेष्ठपुत्र भुवनैकमल्ल सोमेश्वर द्वि० उनके बाद राजा

भुवनैकमल्ल सोमेश्वर द्वि० । हुए । उन्होंने सन् १०६८ से सन् १०७६ ई० तक शासन किया[५] । कादम्ब राजाओंको परास्त करके उन्होंने अपने छोटे भाई जयसिंह त्रैलोक्यमल्लको वनवासीका शासक नियत किया था[६] । उनकी मां गंग वंशकी राजकुमारी थीं और उनके मंत्री भी गंगराजकुमार ऊदयादित्य थे, जो गंगवाडीपर शासन करते थे । सोमेश्वर द्वि० ने अपना मुख्य आवास बंकापुर नियत किया था । वह वहीं रहते थे । वीर चोलको उन्होंने परास्त किया था । चोलोंसे सुरक्षित रहनेके लिये उन्होंने अपने राज्यको तीन प्रांतोंमें बाँटकर उनपर प्रथक प्रथक शासक नियुक्त किये थे[७] । वह भी अपने पिताके समान एक श्रद्धालु भव्य (श्रावक) थे । उन्होंने मूलसंघी आचार्य कुलचन्द्रदेवको नगरखंडमें भूमिदान दिया था[८] ।

१–मैकु० पृ० ७३ । २ हिंविको० ७ । ३१९ । ३–इका० २ नं० ६७ पृ० ३० । ४–मेज० पृ० ५१ । ५–मैकु० ७३ । ६-हिंविको० ७ । ३१९ । ७–मैकु० पृ० ७४ । ८–मेजै०, पृ० ५५ ।

तत्पश्चात् सोमेश्वरके मंझले भाई छठे विक्रमादित्य भुवनैकमल्ल राजा हुए। उन्होंने सन् १०७४ से ११२६ ई० तक शासन किया था[१]। उनकी दो रानियां थीं—एक चोल राजकुमारी थी और

विक्रमादित्य।

दूसरी पल्लव वंशकी राजकन्या थी[१]। महा कवि बिल्हणने इन्हींको लक्ष्य करके अपना प्रसिद्ध काव्य 'विक्रमाङ्कदेव चरित्' लिखा था; जिससे उनके प्रताप और अभ्युदयका परिचय होता है[२]। वह एक पराक्रमी और वीर योद्धा थे। राजचोल प्रथमको परास्त करनेमें उन्होंने अपने विशेष बाहुबलका प्रदर्शन किया था। चोलोंके अतिरिक्त पांचाल, चेदि, आंध्र और लाल देशके राजाओंको भी उन्होंने पराजित किया था। उन्होंने अपने राज्याभिषेककी स्मृतिमें एक संवत् चालू किया था, जो 'चालुक्य विक्रम वर्ष' संवत् कहलाता था और शक ९९७ में फाल्गुन मासकी शुक्ल पंचमीसे प्रारंभ हुआ था[३]। यह महान् चालुक्यराज भी जैनधर्मके भक्त थे। उन्होंने जैनाचार्य वासवचंद्रका विशेष सम्मान किया था। और उन्हें 'बालसरस्वती' उपाधि प्रदान की थी[४]। उनका सम्पर्क जैनधर्मसे उस समयसे था जब वह एक राजकुमार और एक प्रान्तीय शासक थे। उन्होंने तब बल्लिगावे नामक राजनगरमें "चालुक्य-गंग-पेरम्मानडी-जिनालय" नामक सुंदर जिनमंदिर निर्माण कराया था। दण्डनायक वर्म्मदेवने आकर चालुक्यराजसे प्रार्थना की कि वह अपने इस मंदिरके लिये

१-मैकु० पृ० ७४। २-हिविंको०, भा० ७५० ३१९। ३-मैकु०, पृ० ७५। ४-इका० भा० २ नं० ६९ पृ० ३५।

दान देवें। विक्रमादित्यने उनकी इच्छानुसार मूलसंघ और सेनगणके आचार्य रामसेनको इस मंदिरके लिए दान दिया। निस्सन्देह बेल्वोल देशमें उन्होंने अनेक जिनमंदिर निर्माण कराये थे[2]। गुलबर्गा जिलेके हुणसी-हडल्गे नामक स्थानपर उन्होंने 'पद्मावती पार्श्वनाथ जिनालय' निर्माण कराया था, जिसके लेखसे स्पष्ट है कि उनके धर्मगुरु आचार्य अर्हनन्दि थे[3]। निस्सन्देह विक्रमादित्यके शासनकालमें जैनधर्मका विशेष अभ्युदय हुआ था। उनकी कई रानियां थीं, जो भिन्न भिन्न प्रांतोंपर शासन करतीं थीं और जिनमतानुयायी थीं। विक्रमादित्यके माण्डलिक सामन्तोंमेंसे महामण्डलेश्वर जोयिम्मारस एवं कहाड़, कोल्हापुर और कोङ्कणके शिलाहारवंशी राजा तथा सौन्दत्तिके रट्ट वंशके राजा भी जैनी थे; जिनका उल्लेख पूर्व परिच्छेदमें किया जा चुका है[3]। यह सामंतगण पहले राष्ट्रकूट राजाओंके करद थे—उपरांत चालुक्योंके आधीन शासन करते हुए जैनधर्मको उन्नत बना रहे थे।

सोमेश्वर तृतीय। विक्रमादित्यके पुत्र सोमेश्वर तृतीय भुवनैकमल्ल उनके पश्चात् राजा हुए। उन्होंने सन् ११२६ से सन् ११३८ ई० तक शासन किया था। उनकी एक उपाधि 'सर्वज्ञ' भी थी, जिससे उनकी विशेष विद्वत्ताका पता चलता है। संभव है कि यह राजा भी अपने पिताके समान जैन धर्मका भक्त[4] हो। इनके पश्चात् इनका छोटा भाई जगदेकमल्ल राजा हुआ और इसीके शासनकालसे चालुक्य साम्राज्य

१-इका० भा० ७ नं १२४ पृ० ९५-९६। २ मैजैपृ० ५८। ३-दक्षिण पृ० १४७। ४-दक्षिण० पृ० १४७।

राहु-ग्रस्त होगया और दो तीन राजाओंके बाद होयशल्वंशके अभ्यु-दयने उसे नामशेष कर दिया।

चालुक्य राजमें कितने ही प्रान्तीय शासकगण जैनधर्मानुयायी थे। सोमेश्वर द्वि० के समयमें लक्ष्म नामक सामन्त वनवासी प्रदेशपर शासनाधिकारी था। उनके सेनापति शान्तिनाथ थे। वह गोविंद-राजके पुत्र थे। उनके बड़े भाई कण्णपार्य और छोटे भाई वागभूषण रावण थे। श्री शान्तिनाथ सेनापति होनेके साथ ही एक जन्मजात कवि थे–तत्कालीन कवियोंमें वह सर्वमान्य कवि समझे जाते थे। उन्होंने 'सुकुमारचरित्र' की रचना की थी। उनके गुरु मूलसंघ, देशीगण, कुन्दकुन्दान्वयके श्री वर्द्धमान व्रती नामक जैनाचार्य थे। सेनापति शान्तिनाथकी कीर्ति निर्मल थी और उनके धर्मकार्य स्थायी थे।

सामन्त लक्ष्म व सेनापति शान्तिनाथ।

उन्होंने अपने प्रांतीय शासकसे प्रार्थना की कि "वनवासी प्रदेशमें बलिपुर एक प्रधान जैन केन्द्र है। वह जिन-रुद्र आदिके मंदिरोंके कारण 'पञ्च-मठोंका स्थान' नामसे प्रसिद्ध है। अनेक जैनी वहां आते जाते रहते हैं। वहां पर भ० शांतिनाथका मंदिर लकड़ीका बना हुआ है। यदि आज्ञा हो तो वह उस मंदिरको पाषाणका बनवा दें।" सेनापति शांतिनाथकी यह प्रार्थना सामन्त लक्ष्मने स्वीकार की और पाषाणका मंदिर बनवानेकी आज्ञा कर दी। जब वह जिनमंदिर बनकर तैयार हुआ तब सामन्त लक्ष्म और चालुक्यराज सोमेश्वर द्वि०ने

१-हिंत्रिको० मा० ७ पृ० ३२०।

उसके लिये दानपत्र प्रदान किये[1]! जैनधर्मकी प्रभावनाके साधन जुटा दिये!

राजकुमार कीर्तिवर्मा। चालुक्यराज सोमेश्वर प्रथम त्रैलोक्यमल्लके पुत्रोंमें एक राजकुमार कीर्तिवर्मा जैनधर्मके अनन्य भक्त थे। वह एक अच्छे कवि भी थे। उनकी माता केतलदेवी भी जैनधर्मकी भक्तवत्सल उपासिका थीं। केतलदेवीने सैकड़ों जिनमंदिर बनवाये थे और जैनधर्म प्रभावनाके अनेक कार्य किये थे। आज कर्नाटकमें वह मंदिर धराशायी हुए उनकी स्मृतिको प्रगट कर रहे हैं। कीर्तिवर्माका रचा हुआ 'गोवैद्य' नामक ग्रन्थ मिलता है, जिसमें पशुचिकित्साका वर्णन है। उसकी उपाधि 'वैरिकरिहरि' उसे महान् योद्धा प्रगट करती है। उनके गुरु देवचंद्र मुनि थे[2]।

सेनापति मल्लप। चालुक्योंके प्रांतीय शासकोंके समान ही उनके राजकर्मचारी भी जैनधर्मके भक्त थे। चालुक्यराज तैलप (सन् ९७३-९९७ ई०) के सेनापति मल्लपका भी सम्पर्क जैनधर्मसे था। मल्लपकी पुत्री अत्तिमब्बे जैन धर्मकी अनन्य सेविका थीं। उन्होंने जैनकवि पोन्नरचित 'शान्तिपुराण' नामक धर्मग्रन्थकी एक हजार प्रतियां लिखवा कर वितरण की थीं और सोने तथा रत्नोंकी १५०० मूर्तियां निर्माण कराई थीं! धर्मप्रभावनाका सच्चा रूप उन्होंने धर्मात्माओंको दर्शा दिया थाै।

१-मेजै० पृ० ११२-११३, २-कजैक० पृ० १७। ३-मैजै० पृ० १५६

इन्द्रकी मूर्ति ।

(इन्द्रगुफा, इलोरा)

एक जैन गुफाका स्थम्भ—एलोरा।

राजा विक्रमादित्यके वंशज पंड़िग कदम्बलिगे प्रान्तके शासनाधिकारी थे। यक्षिसुंदरी (जेक्किसुन्दरी) उनकी धर्मपत्नी थीं। जेकी जैनधर्मकी परम भक्त थीं। उन्होंने काकम्बाल नामक प्रसिद्ध स्थानपर एक सुंदर जिनमंदिर निर्माण कराया था। धर्मप्रभावनाके कार्य करनेमें उन्हें रस आता थी।

पंडिग यक्षिसुंदरी।

सम्राट् जगदेवमल्लके सेनापति कालिदास (दासिमरस) और काडिमरस नामक थे। रायबाग शिलालेख (शक ९४२) में इन दोनों सेनापतियोंकी प्रशंसा अङ्कित है। काडिमरसके लिये लिखा है कि वह 'मंत्रि-चूड़ामणि'—'पेरियदंडनायक' (Chief of the generals) एवं 'श्री जगदेकमल्लदेव साम्राज्य संरक्षणके लिये वज्रपाकार' थे। इसी शिलालेखमें कालिदासका कीर्तिकलाप निम्नलिखित रूपमें किया है:—

सेनापति कालिदास व काडिमरस।

" उद्दंडदंडाधिपचंडमृत्युः। सौजन्यनीरेरुहितिग्मरेचिः। शिष्टेऽष्टकल्पांघ्रिप। एवलोके। भातीहि १ सेनाधिप कालिदासः ॥ १ ॥ उद्वृत्ताराति। दंडाधिपदवदहनो। वैरिमातंगसिहीचातुर्यांबोधिसंवधनंरजनिकरो राज्यलक्ष्मीललामः। सङ्गां द्विव्रातचिंतामणिरमलयशव्याप्त। दिग्भूमिभागो भाति श्री कालिदासः सकलगुणनिधिर्दंडनाथाग्रगण्यः ॥ २ ॥

१–मेज॰ पृ॰ १५७।

निस्सन्देह वह एक महान् वीर और धर्मात्मा सज्जन थे । वह सबके लिये इच्छापूर्वक थे । कोल्हापुर प्रांतके जैनवीरोंमें वे मुख्य थे । कालिदासके श्वसुर काडिमरस थे[1] ।

गंगपेरमानडीदेव एवं दामराज ।

सार्वभौम चालुक्यनरेश त्रिभुवनमल्ल (सन् १०७४–११२६) के एक सामन्त गंगपेरमानडीदेव नामका था, जिनके मंत्री नोक्कय हेग्गडे थे । दामराज नामक जैन कवि उनके आश्रित था; परन्तु उपरांत वह उपर्युक्त सामन्तका 'सांधिवैग्रहिक' मंत्री होगया । स्वयं गंगपेरमानडीदेव जैनधर्मानुयायी थे । उन्होंने बहुतसे जिनमंदिरोंको ग्रामादिक दान दिये थे। उन दानपत्रोंको दामराजने लिखा था । उनकी रचना सरस और उच्चकोटिकी है, जिससे दामराज एक उच्चश्रेणीके कवि प्रमाणित होते हैं । उनकी कोई स्वतंत्र रचना उपलब्ध नहीं है[2] ।

दंडनायकि कालियक्क ।

चालुक्यराज त्रिभुवनमल्ल पेरम्माडिदेवके राज्यकालमें पाण्ड्य नामक सामन्त एक प्रांतपर शासन करते थे । उनके प्रधान राजमन्त्री सूर्यदंडनायक थे । सूर्यदंडनायककी धर्मपत्नी दंडनायकिति कालियक्क नामक थीं । सन् ११२८ ई० में उन्होंने यह प्रण किया कि सेम्बूर (Mod: Sambanur) नामक स्थानपर वह एक सुन्दर जिनमंदिर निर्माण करायंगी । तदनुसार उन्होंने वहां जिनमंदिर

१-Bombay Hist, Journal, Vol. III P. 198-वीरांक पृ० ८ ।
२-कजैक० पृ० १४ ।

बनवाया और शांतिशयन पण्डितको उस मंदिरकी पूजादिये लिये भूमिदान दिया।[1]

इसीतरह अन्तिम जगदेकमल्ल नरेश (११३९-११४९) के सेनापति नागवर्म्म द्वि० भी जैन धर्मानुयायी थे। वह जातिके ब्राह्मण थे और उनके पिताका नाम दामोदर था। प्रसिद्ध जैन कवि जन्न उन्हींके शिष्य थे। नागवर्म स्वयं एक श्रेष्ठ कवि थे। कनड़ी साहित्यमें उनकी 'कविता गुणोदय' नामसे ख्याति है। उनके रचे हुये 'काव्यालोकन'—कर्णाटकभाषाभूषण—और 'वस्तुकोष' नामके तीन ग्रन्थ हैं। नागवर्मने जैनधर्मके लिये और क्या काम किये, यह बात उनके ग्रन्थोंको देखनेसे जानी जा सकती है[2]।

सेनापति नागवर्म्म।

सारांशतः पाश्चात्य चालुक्य नरेशोंके समयमें भी जैनधर्म राजा और प्रजामें प्रचलित मिलता है। राजा और प्रजा दोनों ही उसको उन्नत बनानेके लिये कर्तव्यपरायण थे। बड़े २ राजा महाराजा और सेठ साहूकार अथवा मनके धनी-धर्मात्मा जो दान देते थे, उसका प्रबंध निःपरिग्रही दिगम्बर जैनाचार्योंके तत्वावधानमें होता था। बहुधा स्थानीय वणिकमंडल और राजकर्मचारी उस दानकी समुचित व्यवस्था रखते थे और उसका सदुपयोग होने देते थे।

रट्ट राजा कार्तवीर्य आदिने जो दान दिये थे, उनकी रक्षा और व्यवस्थाका उत्तरदायित्व वीर वणञ्जु (वणिकों) और उनके मुखियों-

१-मेजै०, पृ० १६४। २-कजैक०, पृ० १२।

पर निर्भय था। उनके साथ कुछ राजकर्मचारी भी रखे गये थे[1]। इस प्रकारकी व्यवस्थाका ही यह परिणाम था कि लक्ष्मीके सदुपयोग-द्वारा धर्मोत्कर्ष हुआ था।

उस समय जैनधर्मके मुख्य केन्द्र श्रवणबेल्गोल, पोदनपुर, कोपण, बलिग्राम, बादामी आदि स्थान थे। श्रवणबेल्गोल श्रुतकेवली भद्रबाहुके पहलेसे ही जैन धर्मका पवित्र स्थान था। चालुक्यकालमें भी वह एक 'महातीर्थ' माना जाता था। इस कालमें यहांके कई जैनाचार्योंने चालुक्य राजाओंसे सम्मान प्राप्त किया था। वादिराज, वासवचन्द्र, विमलचन्द्र, परवादिमल्ल, अजितसेनादि जैनाचार्य राजाओं द्वारा सम्मानित और श्रवणबेल्गोलसे सम्बन्धित थे। धार्मिक अनुष्ठानोंको सम्पन्न करनेके लिये लोग श्रवणबेल्गोल पहुंचते थे और श्रवणबेल्गोलमें सल्लेखना व्रत ग्रहण करके ऐहिक जीवनलीला समाप्त करना महती पुण्योपार्जन करनेका साधन समझते थे। धर्मधुरीण गुरुओंके सान्निध्यमें धर्माराधनाका सुयोग देवदुर्लभ है। किन्तु चालुक्य कालमें वह श्रवणबेल्गोलमें सुलभ था।

जैन केन्द्र—श्रवणबेल्गोल।

पोदनपुर भी उस समय जैन केन्द्र होरहा था। यह वही प्राचीन स्थान माना जाता था जहां भरत चक्रवर्ती और बाहुबलीजीके अहिंसक-युद्ध इस युगकी आदिमें हुये थे। वहीं पर बाहुबलीजीने तप तपा था—वहीं पर इस पुनीत धर्म-कर्मकी स्मृतिमें श्री भरतमहाराजने

पोदनपुर।

१—मैसूर आर्के० रिपोर्ट, सन् १९१६, पृ० ४९।

उनकी विशालमूर्ति निर्माण कराई थी। राष्ट्रकूटराजा इन्द्र चतुर्थने पोदनमें ही अपनी राजधानी स्थापित की थी; जब कि मान्यखेट बरबाद किया जाचुका था। इन्द्रराज जैनधर्मके परम उपासक थे-पोदनमें उनका राजधानी स्थापित करना, यही बताता है कि उस समय वहां जैनियोंका प्राबल्य था। अनुमान किया जाता है कि दक्षिण हैदराबाद रियासतके निजामाबाद जिलेका बोधन ग्राम ही प्राचीन पोदनपुर है।

कोपण।

कोपण बहुत पहलेसे ही एक महातीर्थ माना जाता था। यह स्थान भी निजाम रियासतके अंतर्गत 'कोप्बल' (Kopbal) नामक है। कोपणका शब्दार्थ (कुप्पे=पर्वत+अणे=स्थिति) इस बातका द्योतक है कि वह एक पर्वतकी चोटी पर स्थित था। कोप्बलके शिलालेखोंमें भी उसका उल्लेख पर्वतरूपमें हुआ है। पाश्चात्य चालुक्यराज विजयादित्य (सन् ६९६-७३३ ई०) के हलगेरि शिलालेखमें कोपणको स्पष्टतः जैनियोंका एक महातीर्थ कहा है[2]। यात्रीगण यहांकी वन्दना करके श्रवणबेल्गोलकी वन्दना करने जाया करते थे[3]। श्रवणबेल्गोलके समान ही यहां पर भी जैनाचार्योंकी एक परम्परा विद्यमान थी, जिसके द्वारा जैनधर्मकी खूब प्रभावना होती थी। मुमुक्षुगण उन आचार्योंकी शरणमें आकर अपने जीवनको सफल बनाते और समाधिमरण करते थे। चालुक्यराज विक्रमादित्यके समयमें कोपणमें जटासिंहनन्दि आचार्य प्रसिद्ध थे। संभवतः यह वही आचार्य हैं जिनका

१-मेजै० पृ० १८६, २ मेजै० पृ० १९२, ३ इका० २, ४७५ पृ० ८८।

रचाहुआ 'वाराङ्ग चरित्र' प्रसिद्ध है। उन्होंने कोपणमें ही समाधिमरण किया था। उनके चरणचिह्न और निषधिका भी वहां बनवाये गयेथे।

कोपणके कनड़ी शिलालेख नं० ६ व ७ में उनका उल्लेख हुआ है। श्री सिंहनंदि आचार्यने एक मास पर्यन्त सल्लेखना व्रत पालकर इंगिणिमरण किया था। समाधिकालमें सर्वश्री सिंहनंदि अण्ण, मतिसागर अण्ण, नरलोकमित्र और ब्रह्मचारी अण्ण नामक उनके शिष्योंने उनकी वैयावृत्ति की थी। उसी अन्तरालमें सामिकुमार निरन्तर जिनदेवकी बिम्ब पूजा करते रहे थे। श्री सिंहनंदिजीके स्वर्गवासी हो जानेपर जिनशासनका सूत्र बिच्छुकुंड़की नागदेव वसती और देशी-गण एवं कुन्दकुन्दान्वयके आचार्य श्री कल्याणकीर्त्तिने संभाला था। कल्याणकीर्ति आचार्य सर्वगुणसंपन्न थे।

इन्होंने 'चन्द्रायण' आदि व्रत उपवास किये थे और उनके सदुपदेशको ग्रहण करके अनेक भव्य जीवोंने अपने कर्म-क्षय किये थे। उनके उत्तराधिकारी इंड़ोलिके श्री रविचन्द्राचार्यजी हुये थे, जिनके बाद सर्वश्री गुणसागरमुनिपति, गुणचन्द्रमुनीन्द्र, अभयनन्दिमुनीन्द्र और गणदीपक माघनन्दि क्रमशः आचार्यपट्टपर आरूढ़ हुए। श्री कल्याण-कीर्तिजीने अपने गुरु सिंहनंदिके समाधिस्थलपर एक जिनेन्द्रचैत्य निर्माण कराया था और बिच्छुकुंडिमें श्री शान्तिनाथकी जिनबिम्ब स्थापित की थी[१]।

सन् ८८१ ई० में यहांपर कहीं बाहरसे आकर कुन्दकुन्दान्वयी श्री सर्व्वनन्दिभट्टारक बिराजमान हुए। वह एक चड्डुगदभट्टारकके शिष्य

१-कोपण०, पृ० ८-९।

थे। उन्होंने कोपणनगर व तीर्थका महती उपकार किया, दीर्घकाल तक तप तपा और वहीं पर समाधिमरण किया। उनकी प्रशंसामें सद्भावनाका द्योतक निम्नलिखित आर्या-छन्द भी कोपण शिलालेख नं० २में अंकित है:—

" अनवरत-शास्त्र-दान-प्रविमल-चारित्र-जल-धैरश्चित्रम् ।
दुरित-निदाघ-विघातं कुर्य्यात् श्री सर्वनन्दीन्द्रः ॥ मङ्गलम् ॥ "

इससे उनका निर्मलचरित्र और निरन्तर शास्त्रदानमें निरत होना स्पष्ट है[1]। इसीलिये वह लोकोपकारी कहे गये हैं। इस प्रकार उस समय जैनकेन्द्र और तीर्थस्थानों पर आचार्यगण विद्यमान रहते और धर्मोत्कर्ष करते हुए लोकका उपकार करते थे। उन जंगमतीर्थोंके कारण ही स्थावर तीर्थ धर्मप्रभावनाके मुख्य साधन बने हुए थे। कोपण धार्मिकताके अतिरिक्त अपना राष्ट्रीय महत्व भी रखता है।

यहीं पर चालुक्यराज सोमेश्वर आहवमल्लका एक भयंकर युद्ध चोलनृप राजाधिराज देवसे हुआ था। राजाधिराज एक महान् योद्धा था और वह अनेक युद्धोंमें विजयलक्ष्मी प्राप्त कर चुका था। वह खूनका प्यासा और जैनियोंका शत्रु था। धारवाड़के अण्णगेरे शिलालेखसे स्पष्ट है कि दुष्ट राजाधिराज चोलने बेल्गोल प्रदेश पर अधिकार जमा लिया और वहां पर गंगपेरम्माडीने जो जैनमंदिर निर्माण कराये थे, उनको जला डाला।

चालुक्यराज सोमेश्वरने राजाधिराजके इस दुष्कृत्यका समुचित दण्ड उसे दिया। सन् १०५२ ई०को उपर्युक्त युद्धमें वह उनके

१-कोपण पृ० ६-७,

हाथसे मृत्युको प्राप्त हुआ[1]। श्री सोमदेवाचार्यकी इस युक्तिको उन्होंने सफल कर दिखाया कि धर्ममार्गके कंटकोंको विध्वंस करना कर्तव्य है।

चिक्क-हनसोगे। येडटोरे तालुक (कर्णाटक जिला) का चिक्क-हनसोगे भी नवमीं शताब्दिसे १२ वीं शताब्दितक जैन धर्मका मुख्य केन्द्र रहा है। एक समय वहां पर चौसठ जैनमंदिर थे। किन्तु आज वहां उनके भग्नावशेष ही चहुँओर दृष्टि पड़ते हैं, जिनके मध्य चालुक्य-कलाका परिचायक एक सुन्दर जिनमंदिर अवश्य ही हनसोगेका प्राचीन गौरव बतानेको निःशेष है। सन् १०८० में पुस्तकगच्छके दिवाकर-नन्दि सिद्धांतदेवके प्रधानगुरू श्री दामनन्दिभट्टारक थे। इन दामनंदिजीके एक रिश्तेदार पनसोगेके चांगल्वतीर्थकी बस्तियों एवं अञ्वेबसती तथा बलिवनेवस्तीके मुख्य प्रबंधक थे।

यहींके तीर्थदवसती-शिलालेखमें लिखा है कि उस मंदिरको मूलसंघ देशीगण पुस्तकगच्छके रामस्वामीने दान दिया था, जो दशरथ राजाके पुत्र, सती सीताके पति और लक्ष्मणके भाई इक्ष्वाकुवंशी थे। उनके पश्चात् उस मंदिरको शक तथा नलवंशके राजाओंने, महाराज विक्रमादित्यने और गंग एवं चांगल्व नरेशोंने भी दान दिये थे। बलात्कारगणके नागचन्द्रदेवके शिष्य भानुकीर्ति पन्डित समयाभरणमें उस मन्दिरका जीर्णोद्धार कराया था। सारांशतः हेनसोगे भी चालुक्य-कालमें जैनियोंका प्रमुखस्थान प्राचीन समयसे थाँ।

१-मेजै० पृ० १९४। २-मेजं०, पृ० १९९-२००।

चालुक्य-साम्राज्यमें बलिग्राम (वलिगामे) भी एक खास जैनकेन्द्र था। चालुक्यराज त्रैलोक्यमल्ल सोमेश्वर प्रथमके आधीन बनवासीपुरके प्रांतीय शासक महा मंडलेश्वर चामुण्डरायरस थे। सामन्त चामुण्डरायरस बलिग्रामके मंदिरोंके दर्शन करने आये और श्री केशवनंदि अष्टोपवासी भट्टारकको जिनमंदिरके लिये दान दिया था। इसी स्थानपर पहले सम्राट् जयसिंहने मल्लिकामोद शान्तीसवस्ती लकड़ीकी बनवाई थी। उपरांत उसीको हम देख चुके हैं कि महामंडलेश्वर लक्ष्मरसने पाषाणका बनवा दिया था। उन्होंने देशीगण तालकोलान्वयके भट्टारक माघनंदिको दान दिया था। यहांकी नन्दनवस्ती नामक जैन मंदिरोंको भी चालुक्य राजाओंने दान दिया था।

बलिग्राम।

वन्दनिके भी उस समय एक प्रमुख जैन केन्द्र और तीर्थ था। किंतु आज वहां पर सालवृक्षोंका घना जंगल खड़ा हुआ है और वन्दनिके नामक छोटासा ग्राम वन्दनिके तीर्थकी याद दिला रहा है। वहां चारों तरफ टूटी-फूटी जैन कीर्तियां विखरी पड़ी हैं। सन् ९०२ ई०में वही भव्यजनोंसे परिपूर्ण एक तीर्थ माना जाता था। वह बांधवनगर या बांधवपुरके नामसे भी प्रख्यात था। उस समय लोकतेयरस वहांके प्रांतीय शासक थे। उनके आधीन एक नाड्डु (जिले)का पेरगडे शासक) दिट्टय नामक था। विट्टयने वहां पर एक मनोहर जिनमंदिर निर्माण कराया था। लोकतेयरस और विट्टयके साथ २

वन्दनिके।

१-इक० भा० ७ नं० १२० पृ० ९१। २-मैजै० पृ० २०३-२०४

अन्य लोगोंने भी उस मंदिरके लिये दान दिया। विट्टयके समान उनकी धर्मपत्नी भारङ्गपुर (भारङ्गयूर)की गावुंडी (शासिका) थी। दोनों पति-पत्नीने अंतिम जीवनमें महाव्रत धारण किये थे[१]।

यहांकी शांतिनाथ भगवानकी प्रतिमाकी प्रसिद्धि विशेष थी। सन् ११८२ ई० के एक शिलालेखमें उनकी प्रशंसामें लिखा है कि "चाहे जितने दूधसे उनका अभिषेक किया जाय वह लुप्त होजाता है; यद्यपि फूलोंके हार इतने चढ़ाये जाते हैं कि उनके पैरों तक पहुंच जाते हैं, परन्तु वह भी गायब होजाते हैं; यद्यपि उनका अभिषेक गर्म जलसे किया जाता है, परन्तु वह शीतल ही दिखते हैं। क्या यह शांतिनाथकी महानताको बतानेके लिये पर्याप्त नहीं है?" शांतिनाथ भगवानके इस मंदिरके आचार्य क्राणूरगण, तिनत्रिणिक गच्छ और नन्न वंशके श्री भानुकीर्कि सिद्धांतदेव थे। वह मुनिचन्द्रके शिष्य थे, जो न्याय-व्याकरण-काव्यादि शास्त्रोंके पारङ्गत विद्वान् थे। मागुंडिकी रत्नत्रय वस्तीके वह मूलत: आचार्य थे, जिसे कादम्ब राजा बोप्पदेवके सामन्त शङ्करने निर्माण कराया था। बलिपुरके त्रिपुरांतकसूरि श्री सूर्याभरणने उस मंदिरकी भूरि २ प्रशंसा की थी। निस्सन्देह वह मंदिर बहुत अच्छा बनाया गया था।

इस मंदिरकी प्रशंसा सुनकर ही दंडाधीश रेचरस उसके दर्शन करने आए थे। सन् १२०४में यहांके शासक कवडे बोप्पसेट्टि जैन धर्मके अनन्य संरक्षक थे। यद्यपि वह वंदनिकेके शासक थे, परन्तु वह थे वणिक, जैसे कि उनके सेट्टि नामसे प्रगट है। उन्होंने शांतिनाथ

---

१ मैसूर आर्कि० रिपोर्ट, १९११, पृ० ३८।

मंदिरमें एक सुंदर मंडप निर्माण कराया था। इस मंदिरका 'पारुपत्य' (प्रबन्ध) शुभचंद्र पंडितको प्राप्त था, जिन्होंने जैनधर्मको उन्नत बनाया था।

बादामी। बादामी चालुक्य राजाओंकी राजधानी थी, जहांपर आकर जैनाचार्योंने अपने धर्मकी प्रभावना और प्रतिष्ठा स्थापित की थी। वहां आज भी चालुक्यकालके बने हुये गुफा मंदिर और चैत्य एवं भग्नावशेष जैनधर्मके गौरवको प्रगट कर रहे हैं। चालुक्य राजाओंने यहींसे जैनधर्मके गौरववर्द्धक अनेक कार्य सम्पन्न किये थे! गर्ज यह कि चालुक्य साम्राज्यके मुख्य स्थान जैनधर्मकी कीर्तिगरिमाको प्रमाणित करनेमें एक दूसरेसे बाजी लेते मिलते हैं!

राष्ट्रकूट चालुक्यकालमें जैन साहित्य और कला।

साहित्य। अहिंसा सभ्यता और संस्कृतिकी संरक्षिका है। राष्ट्रकी शांतिमई घड़ियोंमें ही उसका सुभग सौभाग्य उदय होता है। वह शांतिमई बेला अहिंसक वातावरणमें ही नसीब होती है। राष्ट्रकूट और चालुक्य राज्यकालमें जैनधर्मके प्राबल्यने राष्ट्रको अहिंसा भगवतीका अनन्य उपासक बना दिया था। अहिंसाकी उपासना राष्ट्रके लिये विफल नहीं हुई—अहिंसाका वरदान उसे मिला। राष्ट्र खूब फलाफूला, देशमें सुख-समृद्धिकी पुण्य-धारा वही। परिणामतः साहित्य और कलाका भी सुंदर

१–मेजै०, पृष्ठ २०८–२०९। २–बंप्राजैस्मा०, पृ० १०३।

विकास हुआ। 'सत्यं शिवं-सुदरं' केसौम्य दर्शन तब खूब हुए। राजदरबार और सम्पन्न परिवार कवियोंकी काव्यकला प्रदर्शनके लीलाक्षेत्र बने। देवप्रासाद और राजभवन ललित और शिल्पकलाओंके प्रोत्साहक निमित्त हुए। अहिंसाने जनताकी जीवनधारा दयामय सात्विक बना दी थी। साहित्य और कलाप्रदर्शनमें भी वही प्रौढ़ सात्विक धारा अपना प्रभाव रखती थी। जैनाचार्य ही प्रायः उस समय साहित्यधुरीण बने हुए थे। वही सर्वोपरि साहित्यस्रष्टा थे।

राष्ट्रकूट राजाओंके राजदरबारमें उनकी साहित्यक ज्ञानगोष्ठियां होतीं थीं। राजाओं और राजमंत्रियोंके आश्रयमें रहकर जैन कविगण सुन्दर सुशिक्षापूर्ण साहित्य निर्माण करते थे। लोगोंकी मातृभाषा कनड़ी थी। इसलिये कनड़ीभाषा साहित्यकी उन्नति होना अनिवार्य था। परन्तु कनड़ीके साथ ही संस्कृत और अपभ्रंश प्राकृत भाषाओंके जाननेवाले भी काफी थे।

विद्वत्समाजमें संस्कृत भाषाको ही आदर प्राप्त था; किन्तु जनसाधारणकी भाषा होनेका गौरव अपभ्रंश प्राकृतको उसी तरह प्राप्त था, जिस तरह आज उसकी पुत्री हिन्दीको राष्ट्रभाषा होनेका सम्मान प्राप्त है। यही कारण है कि वह 'देशी' भाषा कहलाती थी। जैन कवियोंने संस्कृत और अपभ्रंश प्राकृत भाषाओंके साहित्यको भी समुन्नत बनाया था।

सिद्धांतग्रन्थ।

जैन साहित्यसंसारमें इस समयकी सर्वोपरी और सर्वतोभद्र रचनायें 'षट्खंडागम सूत्र'की 'धवल' 'जयधवलादि' टीकायें कही जासकती हैं; जिनको

श्री वीरसेनाचार्य और जिनसेनाचार्य एवं अन्य आचार्योंने संस्कृत और प्राकृत भाषाओंमें रचा था। तीर्थंकर भगवान् महावीरकी दिव्यध्वनिका आंशिक ज्ञान और उसका आभास इस ग्रंथ-रत्नमें मिलता है यही इसका महत्व है।

संस्कृत साहित्य। संस्कृतभाषा-साहित्यमें जैनाचार्योंने अपनी मूल्यमई रचनाओंसे दर्शन, व्याकरण, काव्य, पुराण, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि सब ही विषयोंमें उच्च कोटिकी कृतियां सिरजी थीं। उन सबका परिचय इस 'संक्षिप्त इतिहास'में पानेकी आशा रखना विफल है। उनके पूर्ण परिचयके लिये एक अलग ही ग्रंथ वाञ्छनीय है। तौ भी संक्षेपमें उनका दिग्दर्शन यहां करा देना अभीष्ट है।

जैनियोंकी देन। संस्कृत साहित्यके लिये जैन कवियोंकी इस कालकी दो देन हैं। पहली देन 'दूतकाव्य' में सर्व-प्रथम शांतिरसको समावेशित करना है। 'दूतकाव्यों द्वारा धार्मिक एवं सैद्धांतिक तत्वों और मंतव्योंका प्रचार करनेका सर्वप्रथम श्रेय संभवतः जैन कवियोंको ही है; क्योंकि आठवीं शताब्दि जैसे प्राचीन समयके रचे हुए श्री जिनसेनाचार्यके 'पार्श्वाभ्युदय' में, जिसमें तीर्थंकर पार्श्वनाथका जीवनचरित्र और उनकी शिक्षाको प्रगट किया गया है, समूचाका समूचा 'मेघदूत' समस्यापूर्ति रूपमें समविष्ट कर लिया गया है[1]। मेघदूत ही दूत

१-इसे प्रो० चिन्ताहरण चक्रवर्ती, एम० ए० काव्यतीर्थने अपने 'दूतकाव्य' सम्बन्धी लेखमें स्पष्ट कर दिया है। जैसि भा०, मा० २ पृ० ६७-६८ व इंहिका० ३-२७३।

साहित्यका सर्वप्राचीन उपलब्ध ग्रंथ है।

जैनकविने उसके श्रृङ्गाररसको शांतिरसमें परिवर्तित करके अपने काव्यकौशुलका परिचय दिया है। निस्सन्देह 'पार्श्वाभ्युदय' के रचयिता आचार्यप्रवर श्री जिनसेनजी संस्कृत भाषाके उद्भट विद्वान् और उच्च कोटिके कवि थे, जैसे पाठक आगे पढ़ेंगे।

संस्कृतके लिये जैनियोंकी दूसरी देन "चम्पूकाव्य" कहा जा सकता है। गद्य-पद्य मिश्रित काव्य 'चम्पू' कहलाता है (गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते)। कवि बाणने भट्टारक हरिचंद्रका उल्लेख किया है, इससे संभव है कि बाणके सम्मुख उनका 'जीवंधर चम्पू' काव्य हो।[1] वैसे इस विषयके ग्रन्थोंमें श्री सोमदेव आचार्य विरचित 'यशस्तिलक चम्पू' ही श्रेष्ट रचना है। इस काव्यको उन्होंने सन् ९५९ ई० में रचा था। जब कि राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्णके आधीन चालुक्य अरिकेसरी द्वितीय गंगधारामें राज्य कररहे थे।

श्री सोमदेवाचार्य।

सोमदेवजीने महाकवि बाणजी शैलीका ही अनुकरण किया है। 'कादम्बरी' के समान ही सोमदेवजीके चम्पू काव्यमें भी यह विशेषता है कि एकके बाद एक कथा उसमें गुम्फित मिलती है। और संरार परिभ्रमण सिद्धान्तका चित्रण उसमें खूब किया

१-"पदबन्धोज्वलोहारी कृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो विभाव्यते॥"

किंतु बाणके समयमें हरिचन्द्रका होना सम्भव है।
—History of Classical Skt. Lit., p. 496.

गया है[1]। 'वह संस्कृत काव्य साहित्यके इतिहासमें एक खास स्थल चिह्न है, इसलिये वह विशेष मूल्यमई है[2]!' उसके रचयिता इस समयके प्रमुख कवियोंमेंसे थे। वह चालुक्य अरिकेसरी द्वितीयके राज-दरबारी कवि थे। जैनधर्मके अनन्य प्रभावक थे। चालुक्य राजधानी गंगधारामें रहकर वह साहित्य रचना किया करते और राजपुरुषोंको अहिंसा मार्गका पर्य्यटक बनाते थे।

वह देवसंघके आचार्य थे और उनके गुरुका नाम आचार्य नेमिदेव था, जिन्होंने ९३ वादियोंको पराजित करके विजयकीर्ति पाई थी। उनहीके समान सोमदेव भी तार्किक विद्वान् थे। उनके 'स्याद्वादाचलसिंह'—'वादीभपंचानन' और 'तार्किकचक्रवर्ती' पद इसी बातके द्योतक हैं, परन्तु साथ ही सोमदेवजीका काव्यकलापर असाधारण अधिकार था। 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य उन्हें स्पष्टतः एक महाकवि प्रमाणित करता है। "समूचे संस्कृत साहित्यमें यशस्तिलक एक अद्भुत काव्य है और कवित्वके साथ २ उसमें ज्ञानका विशाल खजाना संग्रहीत है। सुभाषितोंका तो उसे आगार ही कहना चाहिये।" किन्तु सोमदेवसूरी केवल एक महा तार्किक विद्वान, धर्माचार्य और महाकवि ही नहीं थे, बल्कि वह राजनीतिके भी धुरंधर पंडित थे। उनका 'नीतिवाक्यामृत' ग्रंथरत्न इसका प्रमाण है।

1. "...The manner of boxing tale in tale and the introduction of the motif of transmigration is precisely in the manner of the Kadambari"

—Dr. A. B. Keith, Classical Skt. Lit: p. 87.

2. "As a landmark in the history of poetic literature, it is particularly Valuable." —Dr. M. Krishnamachariar, History of Class: Skt: Lit: 499

जैन साहित्यमें यह अद्वितीय ग्रंथ है। इनके अतिरिक्त सोमदेवजीने (१) युक्ति चिन्तामणि, (२) त्रिवर्गमहेन्द्रमातलिसंजल्प और (३) षण्णवति प्रकरण नामक ग्रंथ भी रचे थे, परन्तु वे उपलब्ध नहीं हैं[१]।

श्री जिनसेनाचार्य।

संस्कृत साहित्यके इस कालमें उद्भट विद्वान् श्री जिनसेनाचार्य थे, यह पहले लिखा जा चुका है। वह 'हरिवंश पुराण' के रचयिता श्री जिनसेनाचार्यजीसे भिन्न थे[२]। वह कर्णाटक देशके निवासी थे, इससे अधिक उनका प्रारंभिक जीवन परिचय अनुपलब्ध है। कहा जाता है कि वे सेनसंघके दिगम्बराचार्य थे, परन्तु 'जयधवला प्रशस्ति' में वे अपनेको 'पंचस्तूपान्वय' से सम्बन्धित बताते हैं। संभव है कि वह सेनसंघकी शाखा हो और उसका सम्पर्क दक्षिणभारतके उस स्थानसे हो जहां पांच स्तूप बने हुये थे। उनके गुरु आचार्य वीरसेन जैन सिद्धान्तके महान् पंडित और दर्शनशास्त्रके महा ज्ञाता थे।

श्री जिनसेनस्वामीके दोनों कान बचपनसे ही विंधे हुये थे। वह 'आविद्धकर्ण' थे। बचपनमें वह बालियां पहनते होंगे; परन्तु मुनिदशामें उन्होंने अपने कान ज्ञान शलाकासे विद्ध करलिये थे। वह बालब्रह्मचारी थे। अति सुंदराकार और अति चतुर न होते हुये भी सरस्वती उनपर मुग्ध हुई थी। वह स्वभावसे बुद्धिमान, शान्त और विनयी थे। यद्यपि वह कृशकाय–पतले दुबले थे, परन्तु तप और गुणोंमें कृश नहीं थे। निरन्तर ज्ञानाराधनामें तल्लीन रहते थे। इसीलिये तत्वदर्शी जन

१–नीत्रा०, भूमिका पृ० ८–१५। २–'हरिवंशपुराण' की भूमिका देखो।

आपको 'ज्ञानपिंड' कहते थे। राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष प्रथमके वह गुरु थे। इसलिये वह उनके समकालीन थे[1]। उनका अधिकांश समय राजनगर मान्यखेटमें व्यतीत होता था, जहां रहकर वह सम्राट् अमोघवर्षके साथ ज्ञानगोष्टि किया करते और सुंदर काव्योंको रचते थे।

उनके रचे हुये पांच ग्रन्थोंका पता चलता है अर्थात् (१) जयधवलाटीका, (२) आदिपुराण, (३) पार्श्वाभ्युदय, (४) वर्द्धमानपुराण और (५) पार्श्वस्तुति। 'जयधवला' टीका जैनसिद्धांतकी अद्वितीय कृति है। जैन पुराण ग्रन्थोंमें 'आदिपुराण'का महत्व सर्वोपरि है। यद्यपि उसमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवका चरित्र वर्णित है, परन्तु उसमें चारों अनुयोगोंका समावेश हुआ मिलता है, जैनाचारका वह मुख्यतः प्रतिपादक है।

उस समयमें जैनोंके आचार विचारमें समयानुसार जो परिवर्तन हुए उनका दिग्दर्शन उसमें मिलता है। आचार विषयक यज्ञोपवीत, अग्निहोत्र आदि बहुतसी बातें नई ही इसमें देखनेको मिलती हैं। उनका प्रचार आचार्य जिनसेनके महान् व्यक्तित्व और समयकी आवश्यक्ताके अनुसार सुगमतया होगया था। मान्यखेटमें जैनमठ और आचार्य-परम्परा विद्यमान थी। उसके प्रधान भी श्री जिनसेन सूरि थे। सम्राट् अमोघवर्षसे भी उन्हें धर्मप्रचारमें सहायता मिली थी। किंतु 'आदिपुराण' काव्यदृष्टिसे भी एक सुंदर रचना है। सब ही साहित्यरसों और अलंकारोंका रसास्वादन उसमें पाठकोंको कराया गया है। किंतु उनका 'पार्श्वाभ्युदय काव्य' भी एक अनूठी रचना है।

१-जैहि० भा० १५ पृ० २५७-२६२।

वह ३६४ मन्दाक्रांता वृत्तोंका एक खंड काव्य है और संस्कृत साहित्यमें अपने ढंगका एक ही है।

निस्सन्देह श्री जिनसेनाचार्यजीकी काव्यरचना महान उच्चकोटीकी है[1]। प्रो० के० बी० पाठकने ठीक ही कहा था कि 'पार्श्वाभ्युदय संस्कृत साहित्यमें एक कौतुकजनक उत्कृष्ट रचना है। वह उस समयके साहित्यस्वादका उत्पादक और दर्पणरूप अनुपम काव्य है। यद्यपि सर्वसंमतिसे भारतीय कवियोंमें कालिदासको पहिला स्थान दिया गया है, तथापि जिनसेन मेघदूतके कर्ताकी अपेक्षा अधिकतर योग्य समझे जानेके अधिकारी है[2]। डॉ० कृष्णामचारियरने भी श्री जिनसेनजीकी कविताको उच्च कोटिकी और कवि कालिदासकी कवितासे सुंदर बताया है[3]। निस्सन्देह जिनसेनाचार्य एक महा कवि थे। वह एक महान् धर्माचार्य और जैनसिद्धान्तके पारगामी विद्वान थे।

श्री गुणभद्राचार्य।

श्री गुणभद्राचार्य उनके शिष्य थे। जिनसेनजी उनके दीक्षागुरु थे और उनके संतीर्थ आचार्य दशरथ गुरु गुणभद्रजीके विद्यागुरु थे। अमोघवर्षके पुत्र कृष्णराज गुणभद्रजीके शिष्य थे। मान्यखेट

१–विर० पृ० १–५२।

2. "The first place amorg Indian poets is allot'd to Kalidas by consent of all. Jainism however claims to be cons-sidered a higher genius than the author of 'Cloud Meseenger' (मेघदूत)." —Prof. K. B. Pathak, JABBRAS, XVIII 223-6.

3. "Jinasena's poetry is of a high order and often equals, if not surpasses the beauty of Kalidasa's expressions."

—Dr. M. Krishnamachariar, History of Class. Skt: Lit:, p. 159.

जैन मठके उत्तराधिकारी जिनसेनसूरिके पश्चात् श्री गुणभद्राचार्य ही हुए थे। उन्होंने भी धर्मोद्योतका मार्ग प्रकाशमान रखा था। गुण-भद्राचार्य संस्कृतभाषाके अनन्य पण्डित और उच्च कोटिके कवि थे। उनके रचे हुये ग्रंथोंमें 'उत्तरपुराण', 'आत्मानुशासन' और 'जिनदत्त चरित्र' उपलब्ध हैं। 'उत्तरपुराण' में अवशेष २३ तीर्थङ्करों और शलाका पुरुषोंका चरित्र वर्णित है। कविता सुंदर है। 'आत्मानुशासन' एक बहुत ही उत्तम ग्रंथ है। इसे २७२ पद्योंमें उन्होंने अपने शिष्य मुनि लोकसेनके हितार्थ लिखा था। 'अध्यात्मके प्रेमी इसके अध्ययनसे अभूतपूर्व शान्ति लाभ करते हैं। इसकी रचना-शैली भर्तृहरिके 'वैराग्यशतक' के ढंगकी है और उसीके समान प्रभावशालिनी भी है। 'जिनदत्त चरित्र' की संस्कृत शैली बड़ी अच्छी और प्रौढ़ है। इस छोटेसे नव सर्गात्मक काव्यसे गुणभद्राचार्यके पाण्डित्यका पूर्ण परिचय मिलता है[1]'।

श्री वादिराजसूरि। उस समयके महातार्किक विद्वान् श्री वादिराजसूरि थे; जिनका रचा हुआ 'एकीभाव स्तोत्र' जैन समाजमें खूब प्रसिद्ध है। वह द्रमिलसंघ नन्दिवंश और अरुङ्गलान्वयके आचार्य थे। 'षट् तर्कषण्मुख' 'स्याद्वादविद्यापति' 'जगदेकमल्लवादी' आदि उनकी उपाधियां थीं। वह सिंहपुर निवासी त्रैविद्य विद्येश्वर श्रीपालदेवके प्रशिष्य, मतिसागर मुनिके शिष्य और 'रूपसिद्धि' ग्रंथके कर्ता दयापालमुनिके सतीर्थ थे। उन्होंने शक सं० ९४८ में 'पार्श्वनाथ चरित्र' की रचना की

१-विर०, पृ० १-८०।

थी। उस समय वह चालुक्य नरेश जयसिंह तृतीय जगदेकमल्लकी राजधानीमें विद्यमान थे।

जयसिंह महाराज वादिराजसूरिके भक्त थे—उनकी सेवा करते थे। उनके दरबारमें परवादियोंको परास्त करनेके उपलक्षमें ही जयसिंह नरेशने उन्हें जयपत्र प्रदान किया था और उन्हें 'जगदेकमल्लवादी' की उपाधिसे अलंकृत किया था, यह पहले लिखा जा चुका है[1]।

कहते हैं कि एकसमय वादिराजजीको कुष्टरोग हो गया था। किसी जैनधर्मद्रोहीने आकर यह बात महाराज जयसिंहसे कही। उस समय राजदरबारमें कोई जैनी बैठे हुए थे, उन्होंने उस बातका खण्डन किया कि उनके गुरु कोढ़ी हैं। हठात् निर्णय करनेके लिये जैन गुरुके पास जाना स्वयं महाराजने निश्चित किया। श्रावक यह सुनकर घबड़ाया। उसने सब हाल गुरुजीसे कहा और बतलाया कि धर्मप्रभावके लिये ही उसने यह कहा था कि उनको कोढ़ नहीं है। वादिराजजीने उसको सान्त्वना दी और स्वयं भगवानकी भक्तिमें 'एकीभाव स्तोत्र' रचनेमें तल्लीन होगये। प्रातः जब महाराज दर्शन करने आये तो देखा वादिराजसूरिकी काया सुंदर और स्वच्छ है। उन्होंने रोषभरे नेत्रोंसे चुगलखोरकी ओर देखा; परन्तु आचार्य महाराजने उनको यथार्थ बात बतला दी। वास्तवमें उनके कोढ़ था, परन्तु जिनेन्द्र भक्तिके प्रभावसे वह जाता रहा।

राजा यह सुन कर प्रसन्न और प्रभावित हुआ और मस्तक नमा कर दरबारको लौट गया। निस्सन्देह वादिराज सूरिजी महान् तपस्वी थे। उनके लिये किसी रोगको अपने आत्मबलसे शमन कर देना कुछ

१–मैजै०, पृ० ४३–४८।

मुश्किल न था[1]। श्रवणबेलगोलकी 'मल्लिषेण प्रशस्ति' नानक शिलालेखमें श्री वादिराजसूरिकी वाणीका महत्व प्रदर्शित करते हुये लिखा है कि त्रैलोक्यको प्रकाशित करनेवाली वाणी या तो जिनराजके मुखसे निर्गत हुई या फिर वादिराज सूरिसे। वादिराजकी महत्व सामग्री राजाओंके समान थी। उनपर चंद्रमाके समान उज्वल यशका छत्र लगा था, वाणी रूपी चँवर उनके कानोंके समीप ढुरते थे, सब उनकी सेवा करते थे, उनका सिंहासन जयसिंह नरेशसे अथवा पुरुषसिंहोंसे अर्चित था और सारी प्रवादी प्रजा उच्च स्वरसे उनका जयजयकार करती थी।

उनके गुणोंकी प्रशंसा कवियोंने इस प्रकार की है कि चालुक्य चक्रवर्ती जयसिंहकी राजधानीमें जो कि सरस्वती रूपी स्त्रीकी जन्मभूमि थी, विजेता वादिराजसूरिकी इसप्रकार डुगडुगी पिटती थी कि हे वादियो! वादका घमंड छोड़दो; हे काव्यकर्मज्ञो! तुम अपनी गमकताका गर्व त्याग दो, हे वाचालो! वाचालता छोड़ दो और हे कवियो! कोमल मधुर और स्फुट काव्य-रचनाका अभिमान त्याग दो। जिसकी हजार जिह्वायें हैं वह नागराज पातालमें रहता है और इन्द्रका गुरु बृहस्पति स्वर्गलोकमें चला गया है।

ये दोनों वादी उक्त स्थानोंमें जीते रहें। इन्हें छोड़कर वहां कोई वादी नहीं रहा है। बतलाइये, यहां और कौन है? जो थे वे तो सब बलक्षीण हो जानेसे गर्व छोड़कर राजसभामें इस विजयी वादिराजको नमस्कार करते हैं।"[2] एक अन्य शिलालेखमें लिखा है

१-विर०; पृ० १४३-१४६। २-इका० भा० २ नं० ६७ पृ० २९-३० व विर०, पृ० १४७-१४८।

कि 'प्रचंड तार्किक वादिराजसूरिको परवादियोंको वादमें परास्त करनेमें आनंद आता था और सम्राट् जयसिंहको उन्हें जयपत्र देते रहनेमें आनंद आता था। 'पञ्चवस्ती शिलालेख' (१०७७ ई०)के आधारसे प्रो० सालेत्तोर लिखते हैं कि वादिराजजीका यथार्थ नाम कनकसेन भट्टारक था।

वह गङ्ग वंशके राजा राचमल्ल चतुर्थ सत्यवाक्यके भी राजगुरु थे और ओडेयदेव नामक मुनि भी उनके शिष्य थे[२]। 'स्याद्वाद-विद्यापति' भी वादिराजका उपनाम था। कहते हैं कि 'सन्मुख' नामसे भी वह प्रसिद्ध थे और 'द्वादश विद्यापति' भी कहलाते थे।* उनके रचे हुए न्यायविषयक ग्रन्थोंमें 'न्यायविनिश्चय विवरण'—'　　　　' और 'वादमंजरी' उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'एकीभावस्तोत्र'—'यशोधरचरित'—'पार्श्वनाथचरित' और 'काकुत्स्थचरित' नामक ग्रन्थ भी रचे थे। उनकी सभी रचनायें सुन्दर और प्रौढ़ हैं। उनके विषयमें ठीक ही कहा गया है कि:—

'सदसि यदकलङ्कः कीर्तने धर्मकीर्ति-
　　र्वचसि सुरपुरोधान्यायवादेऽक्षपादः।
इति समयगुरुणामेकतः संगतानां,
　　प्रतिनिधिरिव देवो राजते वादिराजः॥'

अर्थात्—'वादिराजसूरि सभामें बोलनेके लिये अकलङ्क भट्टके समान हैं, कीर्तिमें धर्मकीर्तिके समान हैं, वचनोंमें बृहस्पतिके समान

१–इका०, भा० ८ नं० ३७ पृष्ठ १४२। २–मैंजै०, पृष्ठ ४४-४७।
* History of class: skt. Lit. p. 295.

हैं और न्यायवाद अक्षपाद गौतमके समान हैं। इस तरह वे इन जुदा जुदा धर्मगुरुओंके एकीभूत प्रतिनिधिके समान शोभित हैं[१]।'

श्री० महावीराचार्य। श्री० महावीराचार्यजी अपने 'गणितसार संग्रह' नामक गणित विषयक ग्रंथके लिये प्रसिद्ध हैं। वह राष्ट्रकूट-सम्राट् अमोघवर्ष प्रथमके समकालीन प्रतीत होते हैं और वह संभवतः मूल संघके आचार्य थे। गणित विषयका उनका उपर्युल्लिखित शास्त्र अनूठा है। जैन वाङ्मयमें गणितानुयोग एक स्वतंत्र और महत्वशाली विषय है। श्री महावीराचार्यजीने उस विषयको अपने ग्रंथमें खूब ही निवाहा है। विद्वानोंका मत है कि त्रिकोणादि विषयक उन्होंने जो ज्ञान प्रतिपाद्य है वह मौलिक और अनूठा है। भारतीय गणितशास्त्रमें उसकी समानताका ग्रंथ शायद ही मिले[२]!

१-विर०, पृ० १४९ व जैहि०, भा० ८ पृ० ५०१ व भा० ११ पृ० ४८९।

2-"The only treatise on arithmetic by a Jaina scholar which is available at present is the Ganita-Sara-Samgraha of Mahavira (850)." —Prof. B. Datta, Bulletin-of Cal. Mathematical soc. XXI, 116.

"Mahavira's investigations in (the solution of rational triangles and quadrilaterals) deserve special consideration for more reasons than one. Indeed they have certain noteble features which we miss in the works of others.........What is more important for the general History of Mathematics, certain methods of finding solutions of rational triangles, the credit for the discovery of which should very righty go to Mahavira, are attributed by modern historians, by mistake to writers posterior to him." —Ibid, XX, 267.

सम्राट् अमोघवर्ष प्रथमके निकट कालवर्ती पाल्यकीर्ति नामक आचार्य थे, जिनका अपर नाम शाकटायन था।

व्याकरणाचार्य पाल्यकीर्ति

वह यापनीय संघके दिगम्बराचार्य थे। उनका शाकटायन व्याकरण अर्थात् 'शब्दानुशासन' नामके व्याकरण ग्रंथ इस समयकी उत्तम रचना है। सम्राट् अमोघवर्षकी स्मृतिरूप उस व्याकरणकी 'अमोघवृत्ति' नामक टीका भी बनी है[1]।

इनके अतिरिक्त कर्णाटक एवं अन्य देशोंके जैनाचार्योंने, जैसे श्री विद्यानन्दिजी, कवि धनंजय प्रभृतने इस कालमें प्रशंसनीय भाग लिया था।

संस्कृतके साथ ही प्राकृत भाषाके साहित्यको भी इस कालमें जैनाचार्योंने उन्नत बनाया था। अपभ्रंश प्राकृत साहित्यके आदिश्रृष्टा जैनी ही कहे जा सकते थे। राष्ट्रकूट कालमें इस साहित्यकी उत्पत्ति भी हुई थी।

महाकवि पुष्पदन्तकी रचनाओंसे ही अपभ्रंश प्राकृत साहित्यकी श्रीवृद्धि हुई। पहले यह लिखा जाचुका है

अपभ्रंश साहित्य और महाकवि पुष्पदन्त।

कि राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण तृतीयके राजमंत्री भरत और णण्णके आश्रममें रहकर कवि पुष्पदन्तने अपनी रचनायें रचीं थीं। महाकवि पुष्पदन्त काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे। उनके पिताका नाम केशव और माता मुग्धादेवी थीं। पहले वे शैव थे, किन्तु उपरान्त उन्होंने जैनधर्म

१-जैहि० ११-५५०।

ग्रहण कर लिया था। पुष्पदन्तका शरीर कृश और श्याम था। वह जन्मसे ही आकिञ्चन्यव्रती थे, परन्तु मनके बड़े ऊंचे और विशाल थे। पहले वह किसी वीरण्य नामक राजाके आश्रयमें रहते थे; परन्तु कारणवश उससे विमुख होकर वह मान्यखेट आ रहे थे।

भरतमंत्रीके शुभतुंग-भवनमें उनका निवास हुआ और उन्हींकी प्रार्थना पर कविराजने अपना 'महापुराण' ग्रन्थ रचा, जिससे उन्हें बड़ा सुख और संतोष हुआ। उन्होंने कहा है कि "इस रचनामें प्राकृतके लक्षण, समस्त नीति, छंद, अलंकार, रस, तत्वार्थनिर्णय सब कुछ आ गया है। यहांतक कि जो इसमें है वह कहीं नहीं है!" निस्सन्देह अपभ्रंश भाषा साहित्यमें पुष्पदन्तके ग्रन्थ विशेष महत्वशाली हैं।

वे भाषाकी दृष्टिसे सबसे प्रौढ़; काव्यकी दृष्टिसे सबसे सुन्दर तथा प्राचीनतामें एक स्वयंभूके काव्योंको छोड़कर सबसे पूर्वके प्रमाणित होते हैं। उनके तीन ग्रन्थ (१) 'जसहर चरिउ' (२) 'णायकुमार चरिउ' और (३) 'महापुराण' उपलब्ध हैं और तीनों ही प्रकाशित होचुके हैं।[१] इनके अतिरिक्त भी उनके और ग्रन्थ होंगे, जिनका पता नहीं है!

कवि धवल।

धवल कवि भी इसी समयके लगभग हुये थे। इन्होंने अपना 'हरिवंशपुराण' अपभ्रंश प्राकृत भाषामें १८००० श्लोकोंमें रचा था। कविराज पुष्पदन्तसे नितान्त विपरीत कवि धवल बड़े ही सरल व विनीत स्वभावी थे। वह सूर नामक ब्राह्मणके पुत्र और केसुलके लघुभ्राता

१-प्रो० हीरालाल, मपु० (मा० ग्रं०) भूमिका पृ० ३७-४१।

थे। जैन धर्मके प्रति उनका विशेष अनुराग था। यही कारण है कि गुरु अम्बसेनसे उन्होंने जैनधर्मकी दीक्षा ली थी।

उन्हीं गुरुजीसे धवलने श्री जिनसेनाचार्य कृत 'हरिवंश पुराण' पढ़कर अपना ग्रंथ रचा था। वह दक्षिण देशवासी थी और किसी देसाहराति नामक राजाके समयमें अपने काव्यको रचकर समाप्त किया था[1]।

कवि स्वयंभू। कवि स्वयंभूदेवने 'हरिवंश पुराण' और 'पऊमचरिय' ७ वी से १० वीं शताब्दियोंके बीचमें रचकर अपभ्रंश प्राकृत साहित्यको उन्नत बनाया था। वह इन ग्रंथोंको अपूर्ण ही छोड़कर स्वर्ग सिधारे थे, परन्तु उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभूने उन्हें पूर्ण किया था[2]।

आचार्य देवसेन। आचार्य देवसेनने अपना 'दर्शनसार' ग्रंथ भी इसी समय रचा था; किन्तु उनका 'सावयधम्म दोहा' अपभ्रंश साहित्यकी सुंदर रचना है। श्री अभयदेव-सूरिका 'जय तिहुयण स्तोत्र' भी इसी समय रचा गया था। सारांशतः अपभ्रंश साहित्य भी इस कालमें प्रकर्षता प्राप्त कर चुका था[2]।

कनड़ी साहित्य। संस्कृत भाषाके साथ ही कनड़ी भाषाका भी उस समय दक्षिणात्य लोगोंमें बहु प्रचार था। विद्वज्जन दोनों ही भाषाओंमें पारङ्गत होना गौरव समझते थे। इस शैलीके उच्च कवि 'उभय-भाषा-कवि-

---

१ वीर, वर्ष ३ पृ० २९१। २-प्रो० हीरालाल जैन, अलाहाबाद यूनीवर्सिटी जनरल, १९२६, पृ० १६४-१७३।

चक्रवर्ती ' पदसे सम्मानित किये जाते थे। निस्सन्देह कनड़ी साहित्यको समुन्नत बनानेका श्रेय जैन कवियोंको ही है। ईस्वी १२ वीं शताब्दि-तक वह विशुद्ध जैन साहित्य ही था। उपरान्त भी जैनियोंका ही उसमें प्राबल्य रहा। कनड़ी साहित्यकी प्रायः सब ही प्राचीन और प्रमुख रचनायें जैनाचार्योंकी कृतियां हैं। कनड़ी भाषाके जैनकाव्य प्रायः ' चम्पू ' शैलीके हैं। उनके पद्य काव्यकलाके उत्कृष्ट नमूने हैं[1]।

1-" Until the middle cf the 12th century it (Kanarese literature) is exclusively **Jaina**, and Jaina literature continues to be prominent long after. It includes all the more ancient, and many of the most eminent, cf Kanarese writings. "
—E. P. Rice, कलि० १५.

श्री पारीशवाडने लिखा है कि " ईस्वी सातवीं शताब्दिसे १४ वीं शताब्दि पर्यन्त ७००-८०० वर्षोंके अन्तराल कालमें लगभग २८० कन्नड़ कवि हुए हैं; जिनमें ६० कवि उच्च कोटिके प्रातःस्मरणीय हुए। इन ६० महा कवियोंमें ५० जनी थे। उनमें भी ४० जैन कवि ऐसे थे कि जिनकी बराबरीका कोई कवि इतर धर्मोंमें नहीं मिलता।"

कर्नाटक साहित्य परिषद पत्रिका, वर्ष ११ अंक १ में लिखा है कि " लौकिक, चरित्र, पारमार्थिक, तीर्थंकरोंके पुराण व दार्शनिक आदि अनेक विषयोंपर जैनोंने ग्रंथ लिखकर अपना नाम अजरामरकर किया है। (जैनेतर) चेन्नवसव पुराण व कन्नड़ महाभारत ग्रंथोंकी भाषासरणी पढ़कर पाठक मुग्ध होते हैं; परन्तु यह विख्यात ग्रन्थ जैन कवियोंकी कृतियोंकी बराबरी नहींकर पाते ! "

प्राक्तनविमर्श विचक्षन श्री नरसिंहाचार्य, एम० ए० ने ' कर्नाटक कविचरिते ' में लिखा है कि " कन्नड भाषाके आद्य कवि जैन हैं। आजतक उपलब्ध प्राचीन और उत्कृष्ट ग्रन्थोंकी रचना करनेका श्रेय जैनोंको है। "-इत्यादि।

कवि राजमार्ग।

कनड़ी साहित्यका सर्वप्राचीन उपलब्ध ग्रंथ 'कवि राजमार्ग' (सन् ८५० ई०) है और यह अनुमान किया जाता है कि वह राष्ट्रकूट सम्राट् नृपतुङ्ग (अमोघवर्ष) की रचना है। उसमें कई प्राचीन कवियोंके भी नाम आये हैं, जिनकी कृतियां अभीतक अनुपलब्ध हैं। राष्ट्रकूट राजाओंके साथ २ गङ्गवंशके राजाओंने भी कनड़ी साहित्यको उन्नत बनाया था। 'कवि राजमार्ग' के पश्चात् कवि गुणवर्मा प्रथमकी रचनायें ही उल्लेखनीय हैं। उन्होंने (१) हरिवंशपुराण और (२) शूद्रक काव्य नामक दो ग्रंथ रचे थे।

आदिपम्प।

दशवीं शताब्दिमें कनड़ी साहित्यके तीन रत्न जैन ही थे। वे पम्प, पोन्न और रन्न थे। पम्प 'आदिपम्प' के नामसे प्रसिद्ध थे। उनका जन्म सन् ९०२ ई० में हुआ था। वह वेङ्गि प्रदेशके निवासी ब्राह्मण थे और जैनधर्ममें दीक्षित हुए थे। वह चालुक्यनरेश सामन्त अरिकेसरीके राजमंत्री और राजकवि थे। सन् ९४१ ई० में जब उनकी आयु ३९ वर्षकी थी, कविने एक ही वर्षमें अपने दो प्रमुख ग्रंथ (१) आदिपुराण और (२) विक्रमार्जुन विजय रचे थे[1]।

उनकी शैली सर्वोपरि है। आदिपुराणका गद्य ललित, हृदयंगम, गंभीराशय और भावपूर्ण है और पद्य तो मोतीकी लड़ियोंके समान हैं। इन कविको कन्नड़ कवियोंका राजा कहना अतिशयोक्ति नहीं है। अरिकेसरीने कविकी रचनाओंसे प्रसन्न होकर उन्हें धर्मपुर नामक

१-कलि०, पृ० ३०-३१.

ग्राम भेंट किया था। उनके गुरु भारतीभालपट्ट देवेन्द्रमुनि थे[1]।

पोन्न। महाकवि पम्पके ही समकालीन कविराज पोन्न थे। वह भी मूलतः वेङ्गिप्रदेशके निवासी थे और कर्णाटकमें आ बसे थे। वहां आनेपर वह जैन धर्ममें दीक्षित हुये थे। उन्होंने संस्कृत और कनड़ी भाषाओंमें ग्रन्थ रचे थे; इसीसे प्रसन्न होकर राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्णराजने उन्हें 'उभयकवि चक्रवर्ती' पदसे विभूषित किया था। 'सर्वदेव-कवीन्द्र'—'सौजन्यकुन्दांकुर'—'कवि चक्रवर्ती' आदि उनकी उपाधियां थीं। उनके गुरुका नाम इन्द्रनन्दि था। उनकी प्रसिद्धिका मूल कारण उनका 'शान्तिनाथपुराण' हुआ[2]। वह चम्पूकाव्य है और इसे "कवि-पुराण चूडामणि" भी कहते हैं। इसकी कविता बहुत ही सुन्दर है।

'जिनाक्षरमाला' नामक स्तुतिग्रंथ भी उनकी रचना है। इनके अन्य ग्रंथ अनुपलब्ध हैं।

रन्न। पोन्नके समान रन्न भी कनड़ीके अतिशय प्रसिद्ध कवि थे। वह चूड़ियोंका व्यापार करनेवाले वैश्य जिन-वल्लभेन्द्र और उनकी पत्नी अब्बलब्बेके पुत्र थे। उनका जन्म सन् ९४१ ई०में मुदुबोल नामक ग्राममें हुआ था। कविरत्न, कविचक्रवर्ती, कविकुंजरांकुश, उभयभाषाकवि आदि उनकी पदवियां थीं। वह राज्यमान्य कवि थे। राजाकी ओरसे सुवर्णदंड, चंवर, छत्र, हाथी आदि उसके साथ चलते थे। उनके गुरुका नाम अजितसेनाचार्य था। सुप्रसिद्ध जैन मंत्री

१-कजैक०, पृ० ७-८. २-कलि०, पृ० ३१-३२.

और सेनापति चामुंडराय उनके पोषक थे। पश्चिमी चालुक्य नृप तैलप (९७३–९९७) से भी कविने सम्मान प्राप्त किया था। सन् ९९३ में रन्नने अपना पहला ग्रंथ 'अजितपुराण' रचा था।

इस ग्रंथको उन्होंने अपने आश्रयदाता चालुक्य नरेश आहवमल्लके सेनापति मल्लपकी पुत्री दानशीला अतिमब्बेके लिये रचा था। अतिमब्बे जैनधर्मकी श्रद्धालु विशेष थीं। उन्होंने सोने-चांदीकी हजारों जिनप्रतिमायें स्थापित कीं थीं और लाखों रुपयेका दान दिया था। इसीलिए वह 'दानचिन्तामणि' कहलातीं थीं। यह ग्रंथ चम्पूकाव्य है और इसे 'काव्यरत्न' एवं 'पुराणतिलक' भी कहते हैं। उनका दूसरा ग्रन्थ 'साहस-भीम-विजय' अपर नाम 'गदायुद्ध' है, जिसमें भीम और दुर्योधनके युद्धका मनोहारी वर्णन है। निस्सन्देह भीमके रूपमें वह अपने आश्रयदाता आहवमल्लका ही चरित्र–चित्रण करते हैं। यह बड़ा ही विलक्षण ग्रंथ है। 'कर्नाटक कविचरिते' के लेखकने लिखा है कि "रन्नकविके ग्रंथ सरस और प्रौढ़ रचनायुक्त हैं। उनकी पद-सामिग्री, रचनाशक्ति और बंधगौरव आश्चर्यजनक है। पद्य प्रवाहरूप और हृदयग्राही हैं। साहस भीमविजयको पढ़ना शुरू करके फिर छोड़नेको जी नहीं चाहता है!"

वस्तुतः कवि रन्नके ग्रन्थ अपूर्व हैं[1]!

गंगसेनापति चामुंडराय भी कनड़ीके सुयोग्य कवि थे, यह

१–कजैक०, पृष्ठ ९–१० और कलि०, पृ० ३२. यद्यपि इन कवियोंका वर्णन इस इतिहासके एक पूर्व खंडमें लिखा जा चुका है; परंतु प्रसंगवश यहीं पुनः लिखा है।

चामुंडराय । पहले बताया जाचुका है । अपना "चामुंडराय पुराण" उन्होंने निरी गद्यमें ओतप्रोत लिखा था, जिससे तत्कालीन कनड़ी-बोलीका परिचय प्राप्त होता है ।[1]

नागवर्म प्रथम । सन् ९८४ ई० के लगभग नागवर्म्म प्रथमने अपना 'छंदोम्बुद्धि' नामक अलङ्कार ग्रन्थ रचा था, जो आज भी कनड़ी छन्द शास्त्रका मान्य ग्रन्थ है । इसे कविने अपनी पत्नीको सम्बोधन करके लिखा है । उन्होंने महाकवि बाणकी 'कादम्बरी' का भी कनड़ी अनुवाद किया था । कवि वेङ्कि निवासी ब्राह्मण-पुत्र थे । श्री अजितसेनाचार्य उनके गुरु थे और चामुंडरायके वह कृपापात्र थे । कवि होकर भी वह बड़े वीर और युद्ध विद्यामें चतुर थे[2] ।

नागवर्म द्वितीय । चालुक्यवंशी जगदेकमल्ल (११३९-११४९) के समयमें दूसरे नागवर्म हुए थे । वह भी जातिके ब्राह्मण थे। उनके पिताका नाम दामोदर था । वह जगदेकमल्ल नरेशके सेनापति और जन्नकविके गुरु थे । कनड़ी साहित्यमें वह 'कवितागुणोदय' नामसे प्रख्यात् है । उनके रचे हुए 'काव्यावलोकन'-'कर्णाटक भाषाभूषण'-और 'वस्तुकोष'

1-"The book is of special interest and value because it is the oldest extant specimen of a book written in continuous prose and therefore enables us to Jain a knowledge of the languge as spoken in the tenth century." -E. P. Rice.

२—कजैक० पृ० ११-१२ व कलि० पृ० ३३.

नामक तीन ग्रंथ हैं[१]। इनका उल्लेख पहले भी आ चुका है।

सन् १०४९ ई० को श्रीधराचार्यने कनड़ीका सर्व प्राचीन उपलब्ध ज्योतिष ग्रंथ लिखा था[२]। सारांशतः जैन कवियों द्वारा उस-समय साहित्यकी अपूर्व सेवा और उसका अद्वितीय अभ्युदय हुआ था।

जैन कला।

साहित्यके साथ ही जैनियोंने देशमें सुंदर और मनोहारी कलाको उन्नत बनाया था। उनकी कला भी सात्वकि और प्रौढ़ थी। यद्यपि उसके विकासमें जैनियोंने अपने धार्मिक सिद्धांतोंको ही प्रधानता दी थी। परन्तु फिर भी वह सर्वसाधारणके लिये कौतुक और आह्लादोत्पादक वस्तु है! उनकी कृतियोंमें युद्ध–सेना–कोट–नगर आदिके भी ऐसे दृश्य अङ्कित मिलते हैं जो अनुपम हैं और जिनसे जैनियोंकी वीरवृत्तिका बोध होता है।[३]

जिन मूर्ति।

किंतु जैन कलामें खास चीज़ मूर्ति है। जिनेन्द्रकी मूर्तियां उपासनाकी मुख्य वस्तु हैं और वह अत्यंत प्राचीनकालसे बनाई जाती रही हैं। चालुक्य राष्ट्रकूट कालमें भी अनेकानेक जिन मूर्तियां

१–कजैक०, पृ० १२ कलि० पृ० ३२. २–कलि० पृ० ३३.
३–अमरेश्वरम्में एक मन्दिरकी छतमें जैनोंकी कारीगरीका पत्थर लगा हुआ है जिसमें संग्रामका दृश्य खिंचा हुआ है–किले बने हुए हैं, धनुषबाण चल रहे हैं, नगर और कोट अद्भुत रीतिसे स्पष्ट दर्शाये गये हैं। श्रवण-गुडीमें एक जैनमठके पास पडे हुए पाषाणोंमें एकपर घुडसवार अपने भालेसे एक पियादेके तलवारके वारको रोकता दर्शाया है। (ऐरि०, भा० ९ पृ० २७७–२७९.) इनके अतिरिक्त सुन्दर स्थंभ और स्थापत्यकला भी जनताके मनोरंजनके लिये खास चीज हैं!
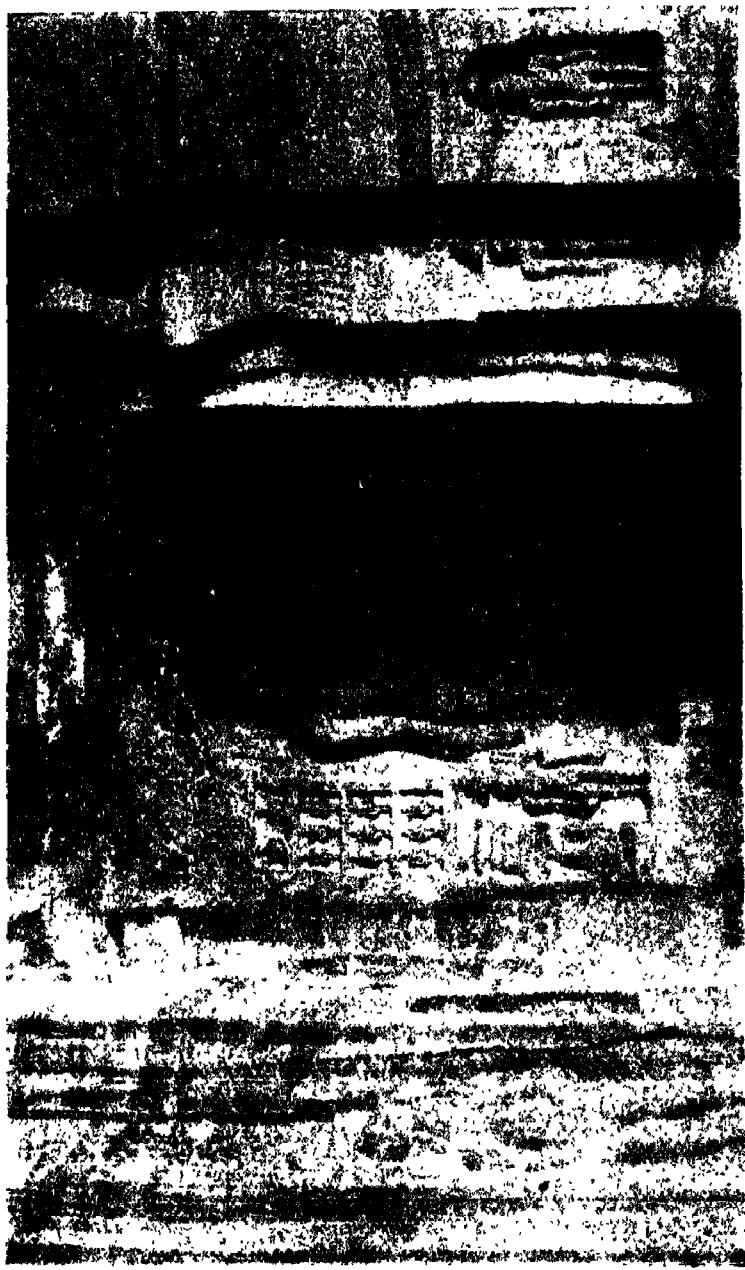
तीर्थङ्करोंकी मूर्तियाँ—बादामी (चालुक्यकला)

[श्री० प्रो० हंसमुख संकलियाके सौजन्यसे प्राप्त]

"जनविजय" प्रेस-सूरत ।

तीर्थङ्करोंकी मूर्तियाँ।

(जैन गुफा, बादामीकी चालुक्य कथा)

[श्री प्रो० हसमुख संकलियाके सौजन्यसे प्राप्त]

निर्मित की गई थीं। वह पाषाणकी हों यही नहीं सोने–चांदी–रत्नादिकी भी बनाई थीं। किन्तु उनमें एक विशेषता यह है कि वे परस्पर अभिन्न हैं। शास्त्रानुसार वह एक ही प्रकार और दिगम्बर रूपमें अनन्त कालसे बनीं हुई मिलती हैं।

चाहे जिस काल और चाहे जिस क्षेत्रकी जिन प्रतिमाको ले लीजिये; उनकी आकृतिमें शायद ही कुछ अन्तर देखनेको मिले[1]। श्रवणबेलगोलमें विशालकाय बाहुबलिकी मूर्ति शिल्पकलाका अद्वितीय नमूना है; परन्तु वैसी ही सुंदर और सौम्यमूर्ति उससे पहले अर्थात् ई० ६०० के लगभगकी बनी हुई बादामीकी जैन गुफाओंमें देखनेको मिलती है। फर्क यही है कि वह उतनी विशाल और उन्नत नहीं है। किंतु आकृति और बनावटमें जरा भी अन्तर नहीं है।

मद्रास म्यूजियमकी एक जिन प्रतिमाके आसन–लेखसे भी इसका कारण स्पष्ट है। उसमें लिखा है कि 'साहित्यके अनन्य रसिक महाराज साल्वदेवने यह प्रतिमा शास्त्र नियमानुसार निर्माण कराई है!' नियमानुसार बनाई गई प्रतिमायें भला परस्पर विभिन्न और विलक्षण होंगी ही क्यों? आज भी वे वैसी ही बनती हैं।

प्रतिमाओंके अतिरिक्त इस कालके बने हुये मानस्थंभ भी जैन

1. "The excessive deference to ritual prescription.........is carried to such an extremity by the Jains that images differing in age by a Thousand Years are almost in distinguishable in style. The uniformity which runs through the centuries extends all over India, so that little difference bet: Northern and Southern productions is noticeable, and the genius of individual artists finds small scope for its display."

—**Smith**, History of Fine Arts in India, pp. 267-68.

कलाके खास नमूने हैं। ऐहोले, इलोरा आदि

मानस्थंभ। स्थानोंपर जैन मंदिरोंमें उल्लेखनीय मानस्थंभ मिलते थे। इलोराकी इन्द्रसभाके सम्मुख सहन (Court)में एक २७ फीट ४ इंच ऊंचा मानस्थंभ बना हुआ है, जिसके शीर्ष भागमें एक चतुर्मुख जिन प्रतिमा अङ्कित थी। दुर्भाग्यवश वह अग्रभाग उस समय गिर गया जिस समय लॉर्ड नार्थब्रुक इस गुफा मंदिरको देखने आये थे[1]। कर्णाटक-प्रदेशमें मानस्थंभोंको बनानेका प्रचार अत्यधिक था। उनके विषयमें श्री वेल्हौस सा० ने लिखा है कि 'जैन स्थंभोंकी आधारशिला (Capital) और शिखिर बारीक और सुन्दर समलंकृत शिल्पचातुर्यकी आश्चर्यमय वस्तु हैं। इन सुन्दर स्थंभोंकी राजसी प्रभासे कोई भी वस्तु बाजी नहीं लेसक्ती। वे प्राकृत सौन्दर्यके अनुरूप ही पूर्ण और पर्याप्त बनाये गये हैं। उनकी नक्कासी और महानता सर्वप्रिय हैं।'[2]

जैनियोंने अपने मंदिर भी खास ढंगके बनाये थे। वे बहुधा

जिन मंदिर। तीन तरहके बने हुए मिलते हैं। (१) नागर प्रकारके समुन्नत शिखरवाले, जो उत्तरीय भारतमें प्रचलित थे, (२) वेसर प्रकारके

१–ए गाइड टू इलोरा, पृ० ५४.

2. "The whole capital and canopy of Jain pillors are a wonder of light, elegant, highly decorated stone work; and nothing can surpass the stately grace of these beautiful pillars, whose proportions and adaptations to surrounding scenery are always perfect, and whose richness of decoration never offends.'

—Walhouse, IA, V. 39.

पश्चिमीभारत, दक्षिण और मैसूरमें प्रचलित थे, और (३) द्राविड प्रकारके जिन पर पिरामिडकी शकलकी शिखिर बनी होती थी और जो ठेठ दक्षिण भारतमें बनाये जाते थे[1]। राष्ट्रकूट—चालुक्यकालमें वेसर प्रकारके मंदिर अपनी विशेषता लिये हुए बनाये गये थे। यह प्रकार शेष दो प्रकारोंका संमिश्रण समझना चाहिये। किंतु इनके अतिरिक्त कोई२ मंदिर नितांत अनूठे ढंगपर भी बनाये जाते थे; जैसे राजनृपने काल्पोले नामक स्थानमें एक अद्वितीय जिन मंदिर ऐसा बनवाया था, जिसकी तीन शिखिरें थीं।

शान्तिनाथ भगवानके उपासकोंके लिये विश्रामगृह रूप एक अन्य जिनमंदिर उन्होंने ऐसा बनवाया था कि जिसकी शिखिरें सोनेकी थीं और जिसके आगे मानस्थंभ बने थे।[2]

कोल्हापुर और बेलगामके जिन मंदिर अवशेष जैन कलाके अच्छे नमूने हैं। कोल्हापुरका प्रसिद्ध महालक्ष्मी मंदिर भी एक समय जिन-मन्दिर रह चुका है[3] और शेषसायी मंदिर तो निस्सन्देह जिनमंदिर है[3]। शिलाहार नृप गंडरादित्यके राज्यकालमें यह मंदिर जैनियोंने बन-वाया था और उसमें २२वें तीर्थंकर श्री नेमिनाथजीकी प्रतिमा विराज-मान की थी। किन्तु आज जिन प्रतिमाका वहां पता नहीं है। यही हाल ऐहोलेके प्रसिद्ध जिन मंदिरका हुआ। किन्तु इन मंदिरोंकी शिल्पकला अद्वितीय है।

१–जैऍ०, भा० १ पृ० ५४.

2. JBBRAS. X, 235.

3. Notes on Shri Maha Lakshmi Temp'e by Prof. Kunda-nagar, p. 5 of 21-22.

शेषासायी-मंदिरके मुख्य मंडपका लटकन (pendant) अद्भुत जैन कलाका नमूना है। उसके गोपुरकी छतमें दिगम्बर जैन मूर्तियां अब भी बनी हुई हैं। जैन मंदिरोंमें स्थंभ शिल्प चातुर्यको प्रगट करनेवाले दर्शनीय होते हैं। इन मंदिरोंके भी स्थंभ दर्शनीय थे। बेलगामके मंदिरमें काले कसौटीके स्तंभ हैं, जिनके अग्रभाग नाग-फण-मंडित अतीव सुंदर बनाये गये हैं।

उसके शिखिर गुम्बजको साधनेवाली महरावोंमें छोटे २ पांच जिन मंदिर बने हुए हैं, जिनमें प्रत्येकमें एक जिनप्रतिमा विराजमान है। उसके एक पाषाण खंडपर एक छत्रधारी घुड़स्वार टोपी ओढ़े अंकित है जिसके पीछे एक स्त्री चल रही है। गुम्बजके बीचोंबीच अद्भुत नक्कासीका लटकन लटक रहा है[1]।

गर्ज यह कि उस समयके जैन मंदिर अपूर्व और दर्शनीय होते थे। उनमें प्रायः एक गर्भगृह और दो मंडप एवं परिक्रमा बना होता था-उनके सामने अक्सर मानस्थंभ होते थे। मंडपके स्थंभ अनूठे बनाये जाते थे, जो एक दूसरेसे शिल्पकलामें विभिन्न होते थे।

गुफा मंदिर।

इस कालके बने हुये जैनियोंके गुफामंदिर भी कलाकी दृष्टिसे महत्वपूर्ण हैं। वे इलोरा, अजंटा, बादामी, ऐहोले, धाराशिव, अंकै आदि स्थानोंमें मिलते हैं। इलोराके गुफा मंदिर सर्वोपरि हैं। 'छोटा कैलाश नामक जिन मंदिर वहां कलाका अद्भुत नमूना है। 'इन्द्रसभा और जगन्नाथसभा' मंदिर भी वहां दर्शनीय हैं। इन्द्रसभा

1. Belgarim, Bom. Gaz. XXI, pp. 540-541.

गुफामें इन्द्र-इन्द्राणीकी मूर्तियां भी तीर्थङ्कर मूर्तियोंके साथ बनी हुई हैं। एक गुफाकी छतमें सुंदर चित्रकला भी बनी थी, परन्तु वह लुप्त होगई है[१]। बर्जेस सा० जीवित पाषाणसे इन सुंदर गुफा मंदिरोंको बनानेके लिये दक्ष शिल्पकारोंको प्रशंसनीय बताते हैं[२]। अजंटाके गुफा मंदिरोंमें नं० १३में दिगम्बर जैन साधुओंका एक संघ चित्रित है और नं० ३३ में दि० जैन मूर्तियें अङ्कित हैं[३]।

धाराशिवकी गुफायें बहुत बड़ी हैं और अति प्राचीन हैं। उनमें शिल्पकारी भी अच्छी है[४]। बादामीकी गुफाओंमें भी दर्शनीय दि० जैन मूर्तियां हैं। उनमें दि० साधुओंके नाम भी लिखे हैं और किन्हीं मूर्तियोंमें जनेऊका चिह्न भी बना हुआ है। यह चालुक्य कालकी कृतियां हैं[५]। शिल्पकारी साधारणतया अच्छी है। नं० ५ गुफा मंदिरमें भ० पार्श्वनाथ और भ० महावीरकी मूर्तियां शासनदेवताओं सहित दर्शनीय हैं[६]।

ऐहोलेका गुफामंदिर दो मंजिल हैं। उनमें गोम्मटस्वामीकी

१-'अनेकान्त' वर्ष ३ अंक १ में हमारा लेख देखो।

2. "...the architects who excavated the two Sabhas at Ellora, deserve a prominent place among those, who,...sought to convert the living rock into quasi-eternal temples."—Burgess.

३-बंप्राजैस्मा०, पृ० ५६, ४-कच० भूमिका।

5. Burgess, Cave Temples, p. 491.

जिनमूर्तियों पर जनेऊका चिह्न शायद इसलिये बनाया गया हो कि उसके नये२ प्रचार पर किसीको आपत्ति न हो।

६-बुलेटिन डेकन कालिज रिसर्च इन्स्टीट्यूट, भा० १ पृ० १५७-१६४.

मूर्ति है और उनकी आकृति द्राविड़-शिल्पकी है[1]। अंकैके गुफा-मंदिर ११ वीं १२ वी ई० शताब्दिके हैं। वे कुल सात हैं और उनका शिल्पकार्य मनोहारी है। खासकर कमलनीके दलोंपर वादित्रों सहित नृत्य करतीं हुईं मूर्तियां दर्शनीय हैं[2]। यह संभवतः इन्द्र-इन्द्रानियोंका उस समयका नृत्य अंकित किया गया है, जिस समय वे तीर्थङ्कर भगवानका जन्मकल्याणक उत्सव मनाने आते हैं।

जैन कलामें शिल्प चातुर्यको पूर्णता देनेका प्रयत्न ओतप्रोत है। यही कारण है कि जो उसके दर्शन करता है वह उसपर मुग्ध होजाता है। चालुक्य कालमें ऐसे २ शिल्पी मौजूद थे जो सिंह, हाथी, तोते आदि पशु-पक्षिणोंके चित्रोंको इस प्रकार गुम्फित करके बनाते थे कि वह अक्षरलिपि बन जाते थे[3]।

सारांशतः जैनधर्मके प्राबल्यने राष्ट्रकूट और चालुक्य राज्यकालको दक्षिण भारतीय इतिहासमें 'स्वर्णकाल' रूपमें परिवर्तित कर दिया था!

"जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम्।"

अलीगंज (एटा
१७-४-१९४१.   —कामताप्रसाद जैन।

१-जैएं०, भा० १ पृ० ८३-८४.
२. Burgess, Cave Temples p. 505-37. ३ मेकु० पृ० १९२।